DOI: https://doi.org/10.46632/cllrm/4/3/4

Contemporaneity of Language and Literature in the Robotized Millennium
Vol: 4(3), 2022
REST Publisher; ISBN: 978-81-936097-3-6
Website: http://restpublisher.com/book-series/cllrm/

21वीं सदी, हिन्दी भाषा और गाँधी

डॉ चन्द्रशेखर

वाराणसी

ई–मेल – shekhar2010.bhu@gmail.com

आज के दौर में विचार और भाषा दोनों पर संकट है। न केवल हिन्दी बल्कि जो भी भाषा उपनिवेशवादी और बाजारवादी व्यवस्था के अनुकूल नहीं होगी, वह नष्ट हो जायेगी। लेकिन इसका प्रतिरोध कैसे किया जाये, उसके बरक्स एक सामानन्तर, व्यवस्था, जो समावेशी हो कैसे बनायी जाये? उसका एक रास्ता गाँधी से होकर निकलता है।

21वीं सदी पर बात करने से पहले हमे 20वीं सदी के अन्त यानी 90 के दशक पर बात करनी जरूरी है। दुनिया के स्तर पर और भारत में भी इस दशक में बड़ा बदलाव देखने को मिला। सोवियत संघ का विघटन (यद्यपि आज वह भी उपनिवेशवादी और विस्तारवादी अभियान में शामिल हो गया है।) और दुनिया का एक ध्रुवीय होना तथा अमेरिका की दादागिरि (अफगानिस्तान और इराक प्रसंग), उदारीकरण के नाम पर कॉरपोरेट का पूरी दुनिया को बाजार बना डालने की साज़िश और उपहार स्वरूप आतंकवाद का आगमन होता है। भारत में राष्ट्रवाद के नाम पर कट्टरवाद का उभार और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था का कम होना दूर तक भारतीय समाज को प्रभावित करेगा। यह ध्यान रखने की जरूरत है कि लोकतांत्रिक मूल्य सिर्फ राष्ट्र की ही जरूरत नहीं है बल्कि समाज, परिवार और व्यक्ति के लिए भी उतना ही मूल्यवान है।

21वीं सदी में संसार एवं यातायात की सुविधाओं के फलस्वरूप एक 'वर्चुअल विश्व' का निर्माण हुआ है। जहाँ 'कल्पित समुदाय' का दायरा बढ़ा है। कोविड ने इस दायरे को और बढा दिया है। हम वैश्विक तो हुए हैं परन्तु अपने आस–पास से कटने लगे है। ऐसा नहीं है कि यह पहले नहीं था, आज इसकी गति पहले से कही बहुत अधिक तीव्र हुई है। सोशल मिडिया पर हजारों, लाखों मित्र समुदाय के बावजूद हम लगातार एकाकीपन की तरफ बढ़े हैं। मशीन पर निर्भरता बढ़ी है और रिश्तों की गर्माहट कम हुई है। अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद ने इंसान को स्वार्थी और

Copyright@ 2022 REST Publisher

डरपोक बना डाला है। छोटे रोजगार नष्ट हुए हैं और बड़े कारोबारियों के पौ बारह है। वर्चुअल दुनिया का विकास हुआ है। कुछ रोजगार नष्ट हुए हैं तो कुछ नए रोजगार के क्षेत्र खुले हैं। महामारी ने मनुष्य की क्षमता और सीमा दोनों को उजागर किया है।

भाषा के सामने भी चुनौतियाँ आयी हैं। वे भाषाएँ जो उपयोगितावादी मानकों पर खड़े नहीं हैं वे नष्ट होने के और करीब पहुँच चुकी हैं। वे भाषाएँ जो बाजारवादी और उपयोगितावादी व्यवस्था के अनुकूल हैं, वे भाषाएँ छोटे और हासिये की भाषाओं को विस्थापित करने लगी हैं। जिसमें पूँजी और विज्ञापन माध्यम बनते हैं। हिन्दी भी इससे अछूती नहीं है।

मेरे मित्र शशिभूषण कहते हैं कि ''हिन्दी विरोध फैशन नहीं है, यह रणनीति और सच्चाई है। विश्व बाजार के लिए हिन्दी का विरोध मुनाफे का उद्यम है। उपर से लगता है कि हिन्दी के विरोध के पीछे अस्मिताओं की राजनीति है, क्षेत्रीय राजनीति है। लेकिन सच्चाई यह है कि विश्व बाजार का दबाव हिन्दी को हिंगलिस में बदलकर अंग्रेजी से रिप्लेस करना चाहता है। बाजार हिन्दी का विरोधी है। वह इसका अंग्रेजी में विलय चाहता है। इसके लिए वह मिडिया का सहारा लेता है, बड़ा इन्वेस्टमेंट करता है। बड़े सूक्ष्म स्तर पर हिन्दी के शब्दों को हिन्दी अखबारों और विज्ञापनों के द्वारा अंग्रेजी के शब्दों से बदला जाता है। अब अम्मा की जगह मदर और विश्वविद्यालय की जगह युनिवर्सिटी स्वीकार्य और सरल है।''[1]

सांस्कृतिक अर्थशास्त्र पर गहरी पैठ रखने वाले विचारकों का कहना है कि बाजार अपने उत्पाद के लिए समाज में भाषा के रास्ते ही अपनी जगह बनाता है। पूँजी संस्कृति के सहयोग से मनुष्यों को वस्तुओं का स्थायी उपभोक्ता बनाती है। पहले भाषा में वर्चस्व स्थापित होता है, फिर वह राज्य के रास्ते राजनीति बन जाता है।

भाषा की समझ के लिए दो बातों पर ध्यान देना जरूरी है। पहला भाषा क्या है और दूसरा भाषा करती क्या है? पहले के द्वारा हम भाषा की प्रकृति को समझते हैं और दूसरे के द्वारा समाज में उसकी भूमिका को। भाषा हमारे अस्तित्व और अस्मिता के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जबकि अधिकांश लोग भाषा को सम्प्रेष्ण का माध्यम मानते हैं। भाषा एक औजार है, जिसका इस्तेमाल हम जिन्दगी को समझने, उससे जुड़ने और जीवन–जगत को अभिव्यक्त करने के लिए करते हैं। यह एक ऐसी वास्तविकता है जो काफी हद तक हमारे आस–पास की घटनाओं,

वास्तविकताओं को हमारे मस्तिष्क में व्यवस्थित करत है। हम न केवल दूसरे से बात करने के लिए अपितु स्वयं से भी बात करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं।

भाषा कभी किसी के रास्ते का रोड़ा नहीं बनती है, रोड़ा हमारी सोच में है। हम अपनी दायरे से निकलना नहीं चाहते। खासकर हिन्दी पद्धती के लोग हिन्दी का प्रसार चाहते हैं पर अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम में ही पढ़ाएगे। वे चाहते हैं कि मलयाली वाला हिन्दी सीखे पर हिन्दी वाले मलयाली कब सीखेंगे। इसका कोई जवाब नहीं मिलता।

वर्ष 1993 को यूनेस्को ने 'विलुप्त होती भाषाओं का वर्ष' घोषित करते हुए कहा था कि अब कम बोली जाने वाली सैकड़ों भाषाओं के खामोश हो जाने का समय आ रहा है। इससे भाषायी सांस्कृतिक विरासत का एक बड़ा हिस्सा विलुप्त हो जायेगा। यह घोषणा उस समय की गयी थी, जब वैश्वीकरण के बाद अंग्रेजी और तकनीकी क्रांति का महत्व ज्यादा बढ़ा गया था और संकटग्रस्त भाषाओं का मिट जाना अधिक सुनिश्चित लगा रहा था। आज स्थिति पहले से और बदतर हुई है।

भारत में मातृभाषाएँ संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज 22 राष्ट्रीय भाषाओं से अधिक है। 2011 के जन सर्वेक्षण के अनुसार प्रमुख मातृभाषाओं की संख्या 271 है। इनमें से कई भाषाओं का अपना साहित्यिक संसार है, लोक संस्कृति है। लेकिन कई मातृभाषाओं में अब स्कूल नहीं है, अखबार नहीं है और ज्ञान की नयी पुस्तकों का रचा जाना सम्भव नहीं है। इन भाषाओं को नयी पीढ़ियाँ छोड़ती जा रही हैं। सवाल यह भी है कि भारत की 22 राष्ट्रीय भाषाओं पर उपस्थित खतरों को कैसे समझा जाये?

भाषा की क्षमता को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि मनुष्य के सारे विचार भाषा की उपज है। आज हम शिक्षण संस्थान, बाजार, मिडिया और राजनीति ही नहीं, व्यक्तिगत सम्बन्धों की दुनिया में भी देखते हैं कि हमारी जो भी भाषा हो – हिन्दी, बांग्ला, गुजराती, मराठी, तमिल वह काफी बदल गयी है। ऐसा नहीं है कि ये बदलाव सामाजिक जरूरत के तहत हो रहे हो। वर्तमान युग में नयी उपभोक्ता वस्तुओं, सेवाओं, अविष्कारों, विचारों या परम्पराओं की व्याख्या पर सामाजिक या लोकतांत्रिक नियंत्रण नहीं रह गया है। इन सब की वजह यह है कि भाषा पर बाजार, राजनीति और मिडिया का निरंकुश कब्जा है। हम अपने ही संसार के चिõों, नारों, अपशब्दों और छवियों से तनाव अनुभव करने लगे हैं। भाषा सामाजिक निर्माण की जगह राजनीतिक प्रौद्योगिक उत्पाद है।

यदि एक तरफ तकनीकी प्रगति ने भाषा में नयी खिड़कियाँ खोली हैं तो दूसरी तरफ एक समुदाय, एक भाषा और एक राष्ट्र का बन्द नजरिया भी बनते देखा जा सकता है।

इधर के दौर में भाषा का व्यवसायिक और राजनीतिक प्रबन्धन के लिए खास तरह से इस्तेमाल हो रहा है। वह कृत्रिम के साथ इमोशनल भी है। यह भाषा अप्रत्यक्ष शोषण है जो कुशल व्यवहार कर्ताओं द्वारा सभ्यता के आवरण में होता है। ऐसी भाषा मायावी होती है, जिसकी विनम्रता में हिंसा छिपी होती है। इस तरह भाषा स्पष्टवादिता या पारदर्शी नदी की जगह दुनिया की गन्दगियों के छिपने की जगह बन जाती है।

19वीं सदी के आस–पास जब हम कृषि आधारित समाज से औद्योगिक समाज की ओर बढ़ रहे थे, हर भाषा में, निश्चय ही हिन्दी में भी एक स्वतंत्र सामाजिक ऊर्जा थी, दूसरी भाषाओं से जीवित संवाद था और उदारवाद की प्रधानता थी। क्योंकि भाषा को गढ़ने की क्षमता मनुष्य के हाथ में थी। उत्तर औद्योगिक संसार में समाज के बोध में सिकुड़न आयी है। इसी के अनुरूप भाषा में भी सामुदायिक आत्म संकुचन आया है। उसका अति राजनीतिकरण और बाजारीकरण हुआ है।

हम देख सकते हैं कि इन दिनों भाषा के ऐतिहासिक विकास के बारे में, भाषा परिवार के बारे में और एक भाषा की अर्थ परम्परा का दूसरी भाषा की अर्थ परम्परा से सम्बन्ध के बारे में नहीं सोचा जाता। इसके विपरीत भाषिक शुद्धिकरण का अभियान है – 'दूसरी भाषाओं के शब्दों को ढूढ़–ढूढ़ कर बाहर निकालो।'

प्रो0 सम्भुनाथ कहते है कि ''आज भाषा का इस्तेमाल ऐसी सूचनाओं के रूप में ज्यादा हो रहा है जो वस्तुतः सूचनाओं को रोकती हैं। भाषा का डिइन्फोर्मेसन के लिए इस्तेमाल हो रहा है, अज्ञानता फैलाने के लिए इस्तेमाल हो रहा है।''[2]

आधुनिक शिक्षा और तकनीकी विकास के वर्तमान युग में कोई मनुष्य ज्यादा समय तक अपनी छोटी स्थानीय भाषा का कैदी बनकर नहीं रह सकता। वह अपनी सांस्कृतिक विरासत को लेकर उस भाषा की ओर बढ़ता है जिससे जातीय आन्तरिकता महसूस होती है।

जातीय आन्तरिकता एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य की पहचान को अपनी पुरानी लघु सीमा से एक बृहत्तर दायरे में पहुँचाता है। उल्लेखनीय है कि जातीय आन्तरिकता उपनिवेशवाद ही नहीं

संरक्षणवादी तत्वों के भी निशाने पर रही है। धर्म और जातिवाद के अलावा भाषा के मामले में भी विखण्डनपरक संरक्षणवाद दिखता है।

हिन्दी कोई भाषा नहीं है, हिन्दी साम्प्रदायिक भाषा है, हिन्दी, हिन्दी क्षेत्र की जातीय अखण्डता की भाषा नहीं है, हिन्दी एक भाषा नहीं है, हिन्दी कई भाषाओं का गुच्छा है जो बिखर जाएगा। इस तरह की इलिटवर्गीय चर्चा बौद्धिक उपनिवेशवाद के शिकार बुद्धिजीवियों द्वारा होती रही है। हिन्दी उन्माद से भरे लोग हिन्दी को धर्म से जोड़ रहे है। वास्तव में हिन्दी भाषा पर उपस्थित चुनौती सिर्फ विखण्डनपरक संरक्षणवाद की तरफ से ही नही है उच्छेदवादी औपनिवेशिक बौद्धिकता की तरफ से भी है। भाषा वैज्ञानिक देवी प्रसाद पटनायक ने लिखा है कि ''भारतीय समाज रिश्तों पर आधारित समाज है। यह पश्चिम सभ्यता के दोहरे और अनुबन्ध आधारित समाज से अलग है। भारतीय समाज विस्तारित परिवार, विस्तरित समाज तथा भाषा संस्कृति को दर्शाता है।''[3] इसका सामान्य बोध न संरक्षणवादियों को है और न उच्छेदवादियों को।

भारतीय भाषाएँ भले उनके स्रोत भिन्न हो, आज वस्तुतः एक महाजातीय परिवार है। लेकिन समस्या यह है कि आमतौर पर हम नहीं जानते कि पड़ोस की भाषा में कहाँ उदासी है, कौन–सी तकलीफ है और उसमे क्या लिखा जा रहा है।

यह भी चिंताजनक है कि हमारी भाषा में उन शब्दों का व्यवहार कम हो गया है जिनका सम्बन्ध प्रेम के रिश्तों से है और उन शब्दों का व्यवहार बढ़ गया है, जिनका सम्बन्ध घृणा और हिंसा से है। हमारा रोज व्यवहार में आने वाला शब्द भण्डार पहले से कम हो गया है। हमारा जीवन पहले की अपेक्षा थोड़े शब्दों और स्वकेन्द्रित सोच में सीमित हो गया है।

हिन्दी को लेकर जिन्हें खूब गर्व है और जिन्हें बहुत शर्म है दोनों तरह के लोगों में एक चीज समान है कि वे हिन्दी की साहित्यिक परम्पराओं से विच्छिन्न है। दोनों ही वस्तुतः साहित्य से दूर हैं।

वैश्वीकरण के युग में हिन्दी का बाजार में उपयोग बढ़ा है, समाज में घटा है। कहा जा सकता है कि हिन्दी क्षेत्र में सामंती तत्वों की शक्तिशाली मौजूदगी की वजह से हिन्दी भाषा और समाज का पर्याप्त सांस्कृतिक बौद्धिक विकास नहीं हुआ। जीवन में फैशन और दिखावा जितना बढ़े हो, दृष्टि में आधुनिकता नहीं आयी।

एक तरह से दुनिया की सभी राष्ट्रीय भाषाएँ गम्भीर खतरे से गुजर रही हैं। आज बड़ी संख्या में लोग अपनी भाषा में बात करने में लज्जा का अनुभव करते हैं, इसे पिछड़ापन मानते है। हिन्दी जानते हुए भी बड़े विद्वान इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, प्रबन्धन तथा ज्ञान–विज्ञान के अन्य विषयों की किताबें अपनी राष्ट्रीय भाषा में लिखने के बजाय अंग्रेजी में लिखते हैं। जिस राष्ट्रीय भाषा में इन विषयों की श्रेष्ठ किताबें न हो, इनकी माँग न हो, वह भाषा कितने दशकों तक चलेगी?

भाषा पर खतरा सोच और संवेदना पर भी खतरा पैदा करता है। इसमें संदेह नहीं है कि भाषा के संकट का सम्बन्ध जीवन के संकट से है। इसलिए भाषायी विविधता को बचाने की कवायद अंततः जीवन को बचाये रखने की ही कवायद है।

1921 में गाँधी जी ने व्यपारियों को सम्बोधित करते हुए कहा था, ''मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप उपभोक्ताओं की बात जरूरत से ज्यादा न सोंचे। आपका झीनी जापानी साड़ियाँ या धोतियाँ या माड़ीदार महीन सूती कपड़े दिखाकर उनको प्रलोभन देना उचित नहीं है। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप इसकी अपेक्षा उपभोक्ताओं में खादी में कला देखने की रूचि पैदा करें। कपड़े में एक–सा पन और मुलायमियत ही कला हो सो बात नहीं है। बहुत ही बढ़िया बने हुए रेशम की गुलाबी फूल में कोई कला नहीं है, क्योंकि उसमें कोई जीवन नही हैं। लेकिन बाग में पैदा हुआ, बाग से तोड़ा हुआ गुलाब का एक ऐसा फूल जिसकी बहुत–सी पंखुड़ियाँ झड़ गयी हैं, सफाई से बनाये हुए नकली गुलाब की अपेक्षा, जो सजी हुई खिड़की में रखा हुआ है, किसी भी हालत में बढ़िया बैठता है। असली फूल में जीवन का संचार है।''[4]

यहाँ गाँधी के जीवन दर्शन और सौन्दर्य बोध के कई सूत्र अंतर्निहत हैं। एक तरफ उपभोक्ताओं को प्रलोभन देने की नीति है, दूसरी तरफ उनमे रूचि पैदा करने की नीति है। प्रलोभन देने की नीति उपभोक्तावाद के साथ बढ़ती जाती है। इस प्रलोभन के माध्यम से भी एक सौन्दर्य रूचि जगायी जाती है, परन्तु यह सौन्दर्य रूचि कृत्रिमता, आडम्बर, अतिशयोक्ति की है। प्रलोभन की शुरूआत विज्ञापन से होती है। विज्ञापन में कमियाँ न बताकर गुणों की अतिरंजित चर्चा जरूर होती है। यह अतिरंजना ही कृत्रिमता और आडम्बर का रूप ले लेती है।

गाँधी जी का उपर्युक्त कथन इस उपभोक्तावाद का विकल्प रचता है। वे कृत्रिमता और आडम्बर के मुकाबले सच्चाई की कला का प्रस्ताव करते हैं। वे रूचि पैदा करने की बात करते हैं। यह सहजता, नैसर्गिकता और जीवंतता की रूचि है। 'नकली फूल में जीवन नहीं है जबकि असली

फूल में जीवन का संचार है।' आज जब हिन्दी के अनेक लेखक और बुद्धिजीवी कलात्मक और गम्भीर दिखने के लिए उलझी हुई, निर्जीव और अनुवाद की भाषा लिखते हैं तो गाँधी का यह दृष्टिकोण और अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

असली फूल में जीवन है, अनगढ़ता हो तो भी। यही बात भाषा के बारे में भी है। अंग्रेजी कितनी समृद्ध जान पड़ती हो, यहाँ के जीवन से, श्रमिकों से उसका सम्बन्ध नही है। वह हमारे लिए कृत्रिम है।

यह मात्र संयोग नहीं है कि कला के अन्य रूपों में भी गाँधी को जीवन से सम्बद्ध सहज कला, अपनी अनगढ़ता के बावजूद पसंद है वह चाहे कविता हो, चित्र हो, मूर्तिशिल्प हो या संगीत।

गाँधी जी को कृत्रिमता के निर्जीव सौन्दर्य बोध से सहजता का सजीव सौन्दर्य बोध अधिक पसंद है। बात चाहे खादी की हो या भाषा की। खादी की तरह वे भाषा में देशज, स्वभाविक और सहज के पक्ष में है। खादी की तरह वे भाषा को भी जन साधारण से संबद्ध देखते है। इसलिए वे प्रस्ताव करते है कि ''यदि स्वराज्य अंग्रेजी पढ़े भारतवासियों का है और केवल उनके लिए है, तो सम्पर्क भाषा अवश्य अंग्रेजी होगी। यदि वह करोड़ों भूखे लोगों, करोड़ों निरक्षर लोगों, निरक्षर स्त्रियों, सताये हुए अछूतों के लिए है तो सम्पर्क भाषा केवल हिन्दी हो सकती है।''[5] यहाँ सम्पर्क भाषा की बात है जो विभिन्न भाषा–भाषियों को आपस में जोड़ती है।

जिस तरह खादी का सम्बन्ध करोड़ों निर्धन–निरक्षर लोगों से था, भाषा का सम्बन्ध भी उन्ही निर्धन–निरक्षर लोगों से था। ये श्रम करने वाले वे लोग थे, जिन्हें ब्रिटिश उद्योगों ने तबाह कर रखा था। यहाँ श्रम का भाषा से सम्बन्ध भली–भाँति पहचान सकते हैं। श्रम का अर्थ है सर्जनात्मकता। इसके बिना भाषा का विकास नहीं हो सकता। कृत्रिमता यदि आडम्बर की पहचान है, तो सर्जनात्मकता श्रम की पहचान है। जो लोग समझते थे कि हिन्दी में विज्ञान प्रौद्योगिकी की परिभाषिक शब्दावली का अभाव है, इसलिए अंग्रेजी से अनुवाद करके भाषा समृद्ध बनानी चाहिए। गाँधी जी प्रौद्योगिकी पदावली का अनुवाद करके भाषा को समृद्ध करने की नीति का विरोध करते हुए प्रौद्योगिकी के विकास पर जोर देते है। 1917 में ही गाँधी जी ने कहा था कि, ''अनुवाद से न भाषा समृद्ध होगी न कौशल बढ़ेगा। अलबत्ता जब हम जहाज वगैरह बनाना सीखेंगे और जलसेना भी खड़ी करेंगे, नौका सम्बन्धी परिभाषिक शब्द तब अपने आप बन जाएगे।''[6]

भाषा का विकास कौशल के विकास पर निर्भर है। यह गाँधी की अद्‌भूत अंतर्दृष्टि का परिचायक है। यह परम्परा उन्हें भारतेन्दु से जोड़ती है। गाँधी के स्वदेशी में कौशल का विकास निहित है और उसे भाषा के विकास की शर्त बनाया गया है।

जैसा कि कहा जाता है, गाँधी जी यंत्र के विवेकहीन विरोधी नहीं हैं। उनके कथन से स्पष्ट है कि वे स्वदेशी कौशल अभियांत्रिकी का विकास करने के पक्ष में थे, विदेशी कौशल की नकल करने के पक्ष में नहीं। गाँधी जी ने मि0 सिंगर की सराहना की थी, जिसने सिलाई मशीन का आविष्कार किया था।[7] उनका मानना था कि यह आविष्कार श्रम की सहायता करने वाला है न कि श्रम का शोषण करने वाला।

गाँधी जी को पता था कि ऋग्वैदिक काल से जिस वाणिज्य और कौशल का हमारे समाज ने विकास किया था, उसके आधार पर जो विश्व बाजार बनाया था, उसे अंग्रेजों ने नष्ट किया है। भाषा का सवाल इस इतिहास बोध और सर्जनात्मक कौशल से अलग नहीं है। उनका सुझाव अपने कौशल और व्यापार को पुनः जीवित करने के ध्येय से परिचालित है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि खादी केवल स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी कपड़े के बहिष्कार तक सीमित नहीं है। इसका उद्‌देश्य विदेशी वस्त्र उद्योग का प्रतिरोध है। दूसरा उद्‌देश्य अंग्रेजी उद्योगों से तबाह किसानों और श्रमिकों की सहायता करना है। इसलिए खादी में सौन्दर्य देखना औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रतिरोध का सशक्त माध्यम है। भाषा के प्रश्न पर भी वे औपनिवेशिक प्रभुत्व का इसी दृढ़ता से विरोध करते हैं।

प्रतिरोध गाँधी की चेतना का प्रमुख स्वर है। प्रतिरोध के इसी तीव्र भाव के कारण गाँधी जी राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी को लागू करने के लिए 'तानाशाह' बनने को भी तैयार थे।[8] वे यहाँ तक कहते हैं कि ''जो लोग अपनी भाषा छोड़ देते है, वे देशद्रोही हैं और जनता के प्रति विश्वासघात करते है।''[9]

गाँधी जी के देश प्रेम की परिभाषा जनता से तय होती है, शासकों से नहीं। जनता की रूचि का विकास हो, जनता की स्थिति सुधरे, शासक की जगह जनता की नजरिये से समस्या का विवेचन करके गाँधी जी ने एक वैकल्पिक आधार प्रस्तुत करने का संघर्ष किया।

कहने की जरूरत नहीं कि यह जनता श्रम करने वाली है। श्रम करने वाली इस जनता के आवश्यकताओं को गाँधी जी ने राष्ट्रीय स्वाभिमान से जोड़ा। उन्होंने बार–बार बताया कि 'अंग्रेजी सीखने में धन, समय, श्रम सब व्यर्थ होते है।'[10] अंग्रेजी का प्रभुत्व ब्रिटिश साम्राज्य के कारण है। आज यह प्रभुत्व अमेरिकी साम्राज्य के कारण है। पूरे देश की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही गाँधी जी ने हिन्दी को अंग्रेजी की जगह राष्ट्र भाषा बनाने का संघर्ष किया। ''इस तरह केवल व्यापार और उत्पादन में ही नही भाषा में भी गाँधी जी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय आवश्यकताओं से जुड़ा है। ब्रिटिश वस्तुओं का प्रभुत्व भारत के उद्योग–व्यापार के लिए विनाशकारी था, तो ब्रिटिश भाषा का प्रभुत्व भारत की सांस्कृतिक उन्नति के लिए विनाशकारी था। गाँधी जी ने दोनों को राष्ट्रीय स्वाभिमान से, जनता के श्रम और आत्म सम्मान से जोड़ा इसलिए खादी और हिन्दी दोनों उनके लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बने।''[11]

गाँधी जी पर अन्ध हिन्दी प्रेम का आरोप लग सकता है, लगता रहा है। परन्तु यह बात ध्यान रखना चाहिए कि वे अच्छी तरह जानते थे कि भारत की अनेक भाषाएँ और उनकी संस्कृति बहुत उन्नत है। तमिलों के भाषा प्रेम और देश प्रेम पर उन्होंने अनेक बार लिखा है। उन्होंने बंगाल विभाजन के समय लक्षित किया था कि ''बंगाल की हवा उत्तर में पंजाब तक और (दक्षिण में) मद्रास इलाके के कन्याकुमारी तक पहुँच गयी है।''[12] अजय तिवारी कहते है कि ''यह ब्रिटिश उपनिवेश में रहते हुए 'बेहोश' भारत की राष्ट्रीयता है।''[13] गाँधी जी इन विभिन्न जातियों (सांस्कृतिक इकाइयों) के प्रति संवेदनहीन नहीं हो सकते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के बिलकुल प्रारम्भिक दिनों में ही (सितम्बर 1920) में ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नाम उन्होंने लिखा था, ''हमने जो एक और उल्लेखनीय परिवर्तन किया है, वह है भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन। हमारा विश्वास है कि प्रान्तों का जो गठन विजेताओं ने समय–समय पर अपनी जरूरतों को देखते हुए किया, वह ठीक नहीं किया तथा यह बात साधारणतया अलग–अलग भाषा बोलने वाले विभिन्न समुदायों की राजनीतिक और सामाजिक उन्नति में और इस प्रकार पूरे भारत की उन्नति में भी बाधक है।''[14]

इस प्रकार जातीय प्रदेश और जातीय भाषा का सूत्र गाँधी ने स्वाधीनता आन्दोलन के प्रारम्भ में ही रखा था। गाँधी जी न तो अन्ध हिन्दी प्रेमी थे और न ही अन्ध हिन्दी विरोधी। वे स्वयं अपनी भाषा से अगाध प्रेम करते थे। वे गुजराती गद्य के अत्यन्त समर्थ गद्य लेखक थे। हिन्दी के समर्थन

और आग्रह के पीछे उनका यथार्थवादी विवेक था। जिसमें उनकी भावना और विचारधारा का सामंजस्य था।

पंजाब की महिलाओं के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था, ''पंजाब की महिलाओं ने रूप–सौन्दर्य के साथ–साथ हाथों के हुनर को भी बनाए रखा है।''[15] एक तरफ प्रकृति – रूप–सौन्दर्य दूसरी तरफ श्रम – हाथों का हुनर। गाँधी जी की सौन्दर्य रूचि बहुत परिभाषित है। वह प्रकृति और श्रम के संयोग से निर्मित हुई है। कहना न होगा कि उपभोक्तावाद के इस दौर में जब अतिरंजना, हिंसा, आडम्बर और कृत्रिमता को ही संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा हो, एक वैकल्पिक सौन्दर्य दृष्टि के विकास में गाँधी हमें दूर तक रास्ता दिखाते हैं।

संदर्भ सूची

1. पृ0सं0–81, दूसरी भाषा से निकटता रखते हुए ही हम सुसंस्कृत और समृद्ध हो सकते हैं – शशिभूषण, वागर्थ मार्च 2021, कोलकाता।
2. पृ0सं0 06, भाषा पर है कैसा संकट (संपादकीय) – प्रो0 शम्भुनाथ, वागर्थ मार्च 2021, कोलकाता।
3. पृ0सं0 09, औपनिवेशिक बौद्धिकता के बावजूद, वागर्थ 2021, कोलकाता।
4. पृ0सं0 320, खण्ड 20, सम्पूर्ण गाँधी वांग्मय।
5. पृ0सं0 31, थाट्स आन नेशनल लैंगुएज, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद (1937)।
6. पृ0सं0 18, खण्ड–14, सम्पूर्ण गाँधी वांग्मय।
7. पृ0सं0 15, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद 1949, संस्करण 2005।
8. यंग इंडिया 5 जुलाई 1928।
9. पृ0सं0 189, थाट्स आन नेशनल लैंगुएज।
10. यंग इंडिया 05 जुलाई 1928।
11. पृ0सं0 70, गाँधी : भाषा का खादी सौन्दर्य – अजय तिवारी, नया ज्ञानोदय, सितम्बर 2019।
12. पृ0सं0 08, हिन्द स्वराज्य।
13. पृ0सं0 70, गाँधी : भाषा का खादी सौन्दर्य – अजय तिवारी, नया ज्ञानोदय, सितम्बर 2019।
14. पृ0सं0 311–12, खण्ड–18, सम्पूर्ण गाँधी वांग्मय।
15. पृ0सं0 346, खण्ड–16, सम्पूर्ण गाँधी वांग्मय।